'नियमसार' गाथा १६२

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।।१६२।।

---

* पूर्वापर = पूर्व और अपर; पहले का और बाद का।

ज्ञानं पर-प्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम्।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात्।।१६२।।

पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे।
'परद्रव्यगत नहीं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे॥१६२॥

इसकी मूल गाथा यह है। गाथा की टीका है।

टीका : यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है। क्या कहते हैं? - कि ज्ञान यदि अकेला परप्रकाशक हो तो ज्ञान आत्मा से भिन्न हो जाए और दर्शन स्वप्रकाशक हो तो दर्शन पर से भिन्न हो जाए। तो ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न हो जाए। ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे। दोनों गुण भिन्न हो जाएँ। अभिन्न न रह सकें। **यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्व पक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है।**

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो... यह विचार भी जगत में है। आज एक पुस्तक आयी है। विद्यासागर की पुस्तक आयी है। उसमें कितना ही (लिखा है)। पहला अनन्तानुबन्धी जाती है, फिर मिथ्यात्व जाता है, मिथ्यात्व कोई वस्तु नहीं। ऐसा लेख, ऐसी प्ररूपणा। लोग भी कैसे-कैसे झेलते हैं। दूसरा क्या कुछ कहा था न?

मुमुक्षु : केवल पुण्य करे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पुण्यभाव करे, अकेला पुण्यभाव करे तो धर्म हो जाए। छोटी उम्र में लोग दीक्षा ले। परमात्मप्रकाश नहीं अपने? भाई का - हुकमचन्द का। उसके जैसा एक लड़का। वह क्षुल्लक हुआ। लोगों को बाह्य त्याग पर बहुत महिमा लगती है। है लड़का बहुत रूपवान और दीक्षित हुआ। छोटी उम्र का। आहाहा! परमात्मप्रकाश, हुकमचन्दजी का है न, उसके जैसा है। बाह्यत्याग पर लोग (मोहित हो पड़ते हैं)। मूल चीज़ क्या है? बाहर के साथ सम्बन्ध क्या? एक अपना गुण, एक पर को जाने और एक अपना गुण अपने को देखे। इसका अर्थ क्या? इसका विचार नहीं करता। अन्दर अभेद वस्तु है। अनन्त गुण का एकरूप। जो एक गुण है, वैसा दूसरा गुण है। उसमें ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे, ऐसा है नहीं।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान

से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा;... ज्ञान यदि पर को ही जाने और दर्शन पर को न देखे तो ज्ञान-दर्शन दोनों भिन्न हो गये। परन्तु यह विचार करने को निवृत्ति कहाँ है? यह वस्तुस्थिति है। जिसे आत्मा साधना है, वह आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है। वही चीज़ है और उसमें एक गुण जो है, वैसा ही दूसरा गुण है, उसकी ताकत इतनी और वैसी है। ज्ञान की ताकत पर को जानने की बहुत-बहुत और दर्शन को जानना (देखना) एक ही आत्मा (- ऐसा होवे तो) यह तो दो गुणों में बड़ा अन्तर पड़ गया। आहाहा! परन्तु ऐसा विचार करता कौन है? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाप के कारण, हों! आहाहा!

मुमुक्षु : अब तो यहाँ रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो भाई सामने (बैठे हैं), सबको (लागू पड़ता है), बहुतों को पापमय ही पूरी जिन्दगी, पाप ही करना। धर्म क्या? आत्मा क्या? एक घण्टे सुन आवे जो वहाँ गप्प मारी हो, वह सच्चा माने। सत्य क्या है?

इसमें भी अन्तर है कि यह आत्मा वस्तु है, इसके दो गुण अभेद हैं। उसमें एक गुण पर को ही जाने, पूरे लोकालोक को जाने और एक गुण एक द्रव्य को ही जाने। आत्मतत्त्व गुण से अभेद है, गुण-गुणी भिन्न नहीं, ऐसी इसे प्रतीति नहीं आयी। बड़ा अन्तर है। ऐसे व्रत, तप और अपवास करके मर जाए, सूख जाए बाहर की क्रिया करके, परन्तु अन्तरतत्त्व क्या है, उसकी खबर नहीं। उसके बिना एकरहित शून्य है। दूसरा बहुत उसमें विरुद्ध कुछ होगा। भाई को, हिम्मत को दी है।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा; (क्योंकि) सह्याचल और विंध्याचल... दो पर्वत भिन्न-भिन्न आमने-सामने हैं। **सह्याचल और विंध्याचल की भाँति अथवा गंगा और श्रीपर्वत की भाँति,...** गंगा नदी कहीं रही और पार्वती कहीं रही। आहाहा! उनकी भाँति **परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा?** आहाहा! ऐसा भी माननेवाले हैं। श्वेताम्बर में तो स्पष्ट लेख ही है। ज्ञान-दर्शन दो के, दर्शन भिन्न है। आहाहा! आत्मप्रकाश दर्शन और परप्रकाश ज्ञान - यह किस प्रकार होगा?

जो आत्मनिष्ठ (-आत्मा में स्थित है वह तो दर्शन ही है।) आत्मा में स्थित है, वह

तो दर्शन ही है। आत्मा में स्थित है। देखने का गुण आत्मा में स्थित है। **और उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण...** क्योंकि दर्शन स्व को देखता है – ऐसा कहा तो स्व में दर्शन स्थित है। स्व में दर्शन स्थित रहा। दर्शन को स्व का आधार मिला; और ज्ञान पर को जानता है तो ज्ञान को स्व का आधार मिला नहीं। न्याय समझ में आता है? दर्शन स्व को देखे तो उसे तो आधार मिला और ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान को तो आधार रहा नहीं। अपने को जाने नहीं तो ज्ञान को आधार रहा नहीं। ज्ञान में कहीं अनन्त पदार्थ रहे? अनन्त पदार्थ में ज्ञान रहे? अनन्त पदार्थों को जाने, परन्तु अनन्त पदार्थों में रहता नहीं। आहाहा! थोड़ा अन्तर परन्तु क्या अन्तर है, यह कहते हैं।

निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही आयेगी;... ज्ञान पर को जाने तो पर का आधार ज्ञान में रहा नहीं। वह तो जाने, उसमें ज्ञान का आधार नहीं रहा। ज्ञान का आधार आत्मा है तो आत्मा के आधार से ज्ञान रहा है। जाने भले पर को, परन्तु रहता है आत्मा के आधार से। तो आत्मा को भी जाने, जिसमें है, उसे भी जाने, जिसमें नहीं है, उसे भी जाने। दर्शन तो स्वयं ही अपने को देखे। यह तो ठीक। दर्शन भी परप्रकाशक है। क्योंकि जैसे ज्ञान परप्रकाशक है और ज्ञान का स्थान आत्मा है, वैसे दर्शन भी पर को देखता है, उसका स्थान-आवास-स्थिति आत्मा में है। आहाहा! ऐसा सब सूक्ष्म! वे (कहे) व्रत पालो, दया पालो। हो गया। अपवास करो, निर्जरा करो। तपस्या, वह निर्जरा, 'तापसा निर्जरा (च)' अपवास बहुत करे (तो) बहुत निर्जरा (हो – ऐसा अज्ञानी कहते हैं)। अपवास करके मर जाए – सूख जाए, वह तो विकल्प है।

उपवास—आत्मा में बसे बिना कल्याण कहीं नहीं है। वह तो अपवास है – बाहर में भटका करे। यह छोड़ा, पानी छोड़ा और आज यह छोड़ा। परन्तु उसमें आत्मा कहाँ आया? जिसमें आत्मा आवे नहीं, उसे धर्म कैसे कहा जाए? वास्तव में तो आत्मा का उपवास (निकटवास), इसका नाम उपवास है। आत्मा के उप अर्थात् समीप में बसे। उसकी खबर भी किसे है? अपना उपयोग अपने में बसे, तो वह ज्ञान अपने आधार से रहा – ऐसा कहा जाए। परन्तु ज्ञान पर को जाने और अपने को न जाने तो अपना तो आधार रहा नहीं। आहाहा!

इस प्रकार **(अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही**

आयेगी;... ज्ञान को आधार नहीं रहने से ज्ञान की शून्यता हो जाएगी। आहाहा! यह कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने लिये बनाया है। उसमें यह लिखा है। क्योंकि उस समय यह मत चलता था। श्वेताम्बरमत निकल गया था। उसके पश्चात् सौ वर्ष में हुए। आहाहा! उसमें यह चलता था, इसलिए उन्हें यह करना पड़ा। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य के पहले श्वेताम्बरमत निकल गया था। भगवान (महावीर) के पश्चात् पाँच सौ वर्ष में। पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य हुए। फिर कुन्दकुन्दाचार्य को यह बनाना पड़ा।

अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा... दो बात। यदि ज्ञान अपने को न जाने तो ज्ञान को अपना स्थान रहा नहीं। अपने को न जाने तो अपना स्थान तो रहा नहीं; और जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा, **(अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,...** क्या कहा? आहाहा! ज्ञान—जानने का स्वभाव यदि स्वयं में न रहे तो आधार बिना वह शून्य हो गया। और वह ज्ञान पर को जाने तो पर जड़ादि सब पदार्थ चेतन हुए। क्योंकि इसका स्थान यहाँ तो रहा नहीं, स्व को जानने में तो रहा नहीं। पर को जानने में ज्ञान रहा, तो जड़ को जानने से जड़ भी चेतन हो जाए। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा... यदि ज्ञान मात्र पर को जाने और अपने को न जाने तो ज्ञान को स्व का आधार रहा नहीं; और वह ज्ञान पर को जाने तो सभी परवस्तुएँ ज्ञानरूप हो गयी। क्योंकि यहाँ तो ज्ञान रहा नहीं। ज्ञान वहाँ रहा। उसे जाने, वहाँ ज्ञान रहा, यहाँ ज्ञान रहा नहीं। तो वे सब चीजें ज्ञानमय हो गयी। आहाहा! ऐसा होने पर सब अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होंगे। तो परमाणु, धर्मास्ति—जिसमें ज्ञान है नहीं, वे पदार्थ सिद्ध नहीं होंगे। आहाहा! बात तो न्याय से है न! बनिया को व्यापार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। न्याय नहीं मिलता, न्याय। वकील को न्याय समझ में आता है। आहाहा!

कहते हैं, ज्ञान पर को जानता है - ऐसा यदि तू एकान्त से कहे तो ज्ञान को अपना आधार रहा नहीं; तो अपने आधार बिना ज्ञान शून्य हो गया। दूसरी बात कि ज्ञान अपने को न जाने, ज्ञान सर्व को जाने तो सब जो अचेतन चीज़े हैं, उन्हें जाने तो ज्ञान का स्थान वहाँ रहा, क्योंकि ज्ञान यहाँ जानने में रहा नहीं, इसलिए ज्ञान आत्मा में तो रहा नहीं। जिसे जाने, वहाँ ज्ञान रहा, तो अचेतन भी ज्ञानरूप हो जाएगा। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान जब अपने को न जाने तो अपने में उसका स्थान तो रहा नहीं; और वह ज्ञान सर्व को जाने, इसके बिना, तो सबका अस्तित्व ज्ञानरूप सिद्ध हुआ। सबका अस्तित्व ज्ञानरूप सिद्ध हुआ। परमाणु भी ज्ञान, धर्मास्ति भी ज्ञान, पुद्गल भी ज्ञान और आकाश भी ज्ञान। क्योंकि यहाँ उसे देखने में रहा नहीं। वह ज्ञान पर में रुका। पर में रुका, इसलिए ज्ञान अचेतन हो गया। आहाहा! अचेतन अलग चीज़ रही नहीं। जरा सूक्ष्म है। निर्णय करना पड़ेगा न? आहाहा!

यह एक ही चीज़ जो तीन काल-तीन लोक एक समय में जाने-देखे, उसका अस्तित्व यहाँ है; उसका अस्तित्व बाहर कहीं नहीं है। और वह पर को जानता है - ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। उसके बदले तू (कहता है कि) ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है, तो पर का जानना, वह तो अभी व्यवहार है। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा अपने को देखे और अपने को जाने, वह अपना गुण है तो अपने को जाने-देखे बिना रहे ही नहीं। इसलिए जिसने आत्मा पर को जानता है - ऐसा कहा और अपने को जानने का निषेध किया, तो उस ज्ञान का आधार तो सब दूसरी अचेतन वस्तुएँ रहीं। अचेतन ज्ञान का आधार रहा तो वह भी ज्ञानरूप हो गयी। बात समझ में आयी?

यहाँ... आहाहा! प्रभु! ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण से स्व-स्वरूप विराजमान है। उसका एक गुण स्व को देखे, एक गुण पर को जाने तो स्व को देखे, उस गुण का स्थान तो आत्मा में रहा, परन्तु जो (गुण) पर को जाने, उसे तो आत्मा का स्थान रहा नहीं। एक बात। और जिसे जाने, उसमें ज्ञान घुस गया, इसलिए वह अचेतन, ज्ञान हो गया। आहाहा! न्याय समझ में आया? यह बनिये के न्याय से अलग प्रकार है। वकील न्याय समझते हैं। आहाहा! यह तो सादी भाषा है।

शरीर, वाणी, मन, कर्म - वे सब तो जड़ हैं और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप, जड़कर्म को जाने तो कर्म का अस्तित्व चैतन्य हो गया। चैतन्य को रहने का स्थान जड़ और कर्म रहे, तो वे चेतन हुए। आत्मा चेतन रहा नहीं। आहाहा! यह तो न्याय की बात है। ऐसा का ऐसा मान ले (तो) दूसरा कोई मिले तो बदल जाए। वस्तु की स्थिति जिस प्रकार से है, उस प्रकार से न माने और दूसरे प्रकार से (मानता) हो जाए। आहाहा!

ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से),

शून्यता की आपत्ति ही आयेगी; अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा)... जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान जाने, **वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,...** आहाहा! इस प्रकार... यह कह सकने का नहीं। ऐई! रात्रि में कह सकूँ नहीं यह। या अद्धर से निकाल डालना है? यह आत्मा के लिए है। देखना भी तुझे और जानना भी तुझे। जाननेवाला-देखनेवाला तू है और वह जाननेवाले-देखनेवाले का अस्तित्व तुझमें और उसका आधार तू है। इस ज्ञान में पर जाने और पर आधार हो तो आत्मा ज्ञानरहित रहकर, दूसरे अचेतन, ज्ञान हो जाएँ। आहाहा! न्याय से बात ली है। अकेली भाषा नहीं रखनी चाहिए। अन्दर तुलना करनी चाहिए। अन्दर में मिलान करना।

दर्शन स्व को देखे और ज्ञान पर को देखे (जाने) - क्या बाधा आयी? क्या आपत्ति है? कहते हैं कि भाई! ज्ञान आत्मा का है। वह ज्ञान अपने प्रदेश छोड़कर बाहर नहीं जाता। जैसे दर्शन का आधार आत्मा में रहा, वैसे ज्ञान का आधार भी आत्मा ही है। उसके बदले तू ऐसा कहे कि ज्ञान पर को जानता है, स्व को नहीं। तो ज्ञान को आत्मा का आधार रहा नहीं। ज्ञान अचेतन हो जाए तो वहाँ अचेतन का आधार हो गया। ज्ञान का आधार तो अचेतन हो गया। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा... ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान तो अचेतन हो गया। अचेतन में रहा। क्योंकि यहाँ तो रहता नहीं। आत्मा को तो ज्ञान जानता नहीं, इसलिए आत्मा में ज्ञान रहता नहीं, तो वह ज्ञान अचेतन जड़ में रहता है। आहाहा! इसलिए अचेतन पदार्थ नहीं सिद्ध होगा। **यह महान दोष प्राप्त होगा।** आहाहा! ऐसी चर्चा भी कठिन पड़े। इसके गुण की सिद्धि करते हैं। इसके जो गुण हैं, वे इसमें हैं। भले जानने का पर का काम करे, वह भी व्यवहार है। पर को जानना, वह भी व्यवहार है। वह जानने-देखनेवाली स्वयं एक ही वस्तु है। स्वयं अभेद वस्तु है। ज्ञान, वह आत्मा और दर्शन, वह आत्मा, दोनों एक ही चीज़ है। आहाहा!

इसीलिए (उपरोक्त दोष के भय से), हे शिष्य!... आचार्य महाराज शिष्य को सम्बोधन करते हैं। **ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है...** ज्ञान केवल पर को जानता है - (ऐसा नहीं है)। आँख है, वह पर को देखे, परन्तु आँख, आँख को नहीं देखती। है या नहीं? आँख यह देखे, परन्तु स्वयं को नहीं देखती। इसी प्रकार ज्ञान पर को जानता है, परन्तु अपने को नहीं जानता - ऐसा नहीं है। आहाहा! यह भी दृष्टान्त है। दूसरी जगह।

आहाहा! **ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है, ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है...** दर्शन भी आत्मा में स्थित नहीं रहता। ज्ञान जैसे नहीं रहता, वैसे दर्शन को आत्मा का आधार नहीं रहे, तो दर्शन का अभाव हो जाएगा। आहाहा! **ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा चुका है।** जैसे ज्ञान, उसके साथ रहनेवाला दर्शन, ज्ञान जैसे पर को जाने तो वहाँ अस्तित्व नहीं रहा। पर का रहा। इसी तरह ज्ञान के साथ रहनेवाला, अभिन्न रहनेवाला दर्शन अकेले स्व को जाने तो स्व में ही रहा, पर को जान न सके, तो दर्शन पर को (देख) जान न सके। आहाहा! है?

इसलिए वास्तव में सिद्धान्त के हार्दरूप ऐसा यही समाधान है... इसलिए सिद्धान्त का रहस्य, सिद्धान्त का हार्द, सिद्धान्त का हृदय (यह है)। आहाहा! **कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है ही।** दोनों को स्व-परप्रकाशकपना है। दर्शन स्वप्रकाशक भी है और परप्रकाशक है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन का आधार आत्मा है। तो एक गुण पर को देखे और स्व को न देखे - ऐसा नहीं होता। इसलिए एक गुण जब पर को देखे तो वही गुण यहाँ दर्शन (है, वह) ज्ञान के साथ अभिन्न है (तो) दर्शन स्व को भी देखता है। आहाहा! न्याय से बात है, परन्तु अब न्याय कभी सीखे न हों। ऐसी की ऐसी मजदूरी की, मजदूरी। पूरे दिन व्यापार की मजदूरी। आहाहा!

अन्दर भगवान आत्मा... इन दो गुणों का अस्तित्व किस प्रकार है? ऐसे का ऐसा मानना (- ऐसा नहीं), परन्तु अन्दर न्याय से, अन्दर परीक्षा करके ज्ञान और दर्शन आत्मा में एक समय में एकसाथ आधाररूप से किस प्रकार रहे हैं? कि यदि ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान पर में चला गया। दर्शन स्व में रहा तो दो भिन्न पड़ गये। दो भिन्न पड़े तो दो का आधार रहा नहीं। ऐसा है नहीं। दर्शन और ज्ञान तो अभिन्न है। दर्शन और ज्ञान अन्दर अभिन्न है, एक है। जैसे ज्ञान पर को जाने, वैसे दर्शन भी पर को देखता है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। अभिन्न गुण में एक गुण पर को जाने और एक गुण इसे (स्व को देखे) जाने, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसी निवृत्ति किसे होती है! यह किस प्रकार सिद्ध करते हैं और किस प्रकार है?

प्रभु! तू कौन है? तेरे बिना, प्रभु! सब शून्य है। आहाहा! तेरा अस्तित्व, तेरी मौजूदगी अभेद गुणवाली है। कोई गुण पर को जाने, पर के पक्ष में जाए और एक गुण स्व

के पक्ष में रहे, ऐसा आत्मा नहीं है। आहाहा! यह आत्मा का अस्तित्व ही उसमें नहीं है। एक गुण के साथ दूसरा गुण रहता ही है। एकसाथ रहे हुए हैं, उसमें एक गुण को पर में डाले और एक गुण को स्व में रखे तो दो साथ में नहीं रहते। दो साथ में नहीं रहते तो दो का आधार आत्मा भी नहीं रहता। समझ में आया? आहाहा! आचार्यों ने स्वयं के लिए ऐसा किया है। स्वयं के लिये, पर के लिये नहीं। आहाहा! पर को तो फिर उपदेश में चलता है। आहाहा!

इसी प्रकार श्री महासेनपण्डितदेव ने (श्लोक द्वारा) कहा है कि:—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरी-भूतं सोऽय-मात्मेति कीर्तितः।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,...** क्यों कहा? ज्ञान पर को जानता है - ऐसा तू कहे तो आत्मा से ज्ञान पृथक् नहीं है। ज्ञान पृथक् नहीं है तो ज्ञान आत्मा को जाने बिना रहता नहीं। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा? कि **आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,...** वह ज्ञान पर को जाने तो आत्मा ज्ञान से भिन्न हो जाता है। ऐसा है नहीं। आहाहा! **(सर्वथा) अभिन्न नहीं है,...** आहाहा! ऐसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। क्योंकि एक गुण एक द्रव्य हो जाएगा। यदि सर्वथा अभिन्न होवे तो एक गुण एक द्रव्य ही हो जाएगा।

कथंचित् भिन्नाभिन्न है;... आहाहा! पर को जानने की अपेक्षा से एक। एक अपेक्षा से स्व-परप्रकाशक है। दर्शन भी एक अपेक्षा से स्व-परप्रकाशक हैं, तो कथंचित् भिन्नाभिन्न कहने में कोई दिक्कत नहीं है। आहाहा! दर्शन और ज्ञान के दो स्वभाव आत्मा की अपेक्षा से अभेद है। पर को जानने की अपेक्षा से दोनों एक सामान्य देखे और एक विशेष देखे, ऐसे कथंचित् भिन्न हैं। क्या कहा? आहाहा! आचार्यों ने श्लोक बनाये होंगे, वे कोई साधारण के लिए बनाये होंगे? आहाहा! थोड़े में बहुत सिद्ध करना है।

(गुणों से) आत्मा सर्वथा भिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है। क्योंकि ज्ञान एक गुण है। ज्ञान, वह पूरा आत्मा नहीं है। आहाहा! इस अपेक्षा से कथंचित् भिन्न है; और सर्वथा अभिन्न नहीं है। सर्वथा अभिन्न नहीं है। सर्वथा अभिन्न होवे तो पर को जान नहीं सके। आहाहा! पर को जानने की शक्ति भी उसमें है। अपने में रहकर पर को जानने की शक्ति

उसमें है। आहाहा! पर को जानने पर भी पररूप नहीं होता और पररूप न जाने तो वह ज्ञान का स्वभाव ही नहीं रहता। समझ में आया? यह भारी कठिन।

महासेन पण्डित, इन्होंने यह कहा कि **आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,...** कथंचित् जानने की अपेक्षा से भिन्न है। दूसरे गुण की अपेक्षा से भिन्न है। आनन्दगुण की अपेक्षा से भिन्न है। द्रव्य और गुण सर्वथा अभिन्न नहीं है तथा दूसरे गुण और गुण सर्वथा सर्वथा अभिन्न नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात याद रहना भी मुश्किल पड़े। सिर व्यापार के घुस गया न! सिर वहाँ रखे। आहाहा! क्या कहा?

आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है,... यदि अत्यन्त भिन्न होवे तो गुण और गुणी (दो नहीं रहते)। गुणी भिन्न चीज़ और ज्ञान भिन्न चीज़ - ऐसा हो जाएगा। आहाहा! द्रव्य भिन्न चीज़ और गुण भिन्न चीज़ - ऐसा हो जाएगा। तथा **(सर्वथा) अभिन्न नहीं है,...** सर्वथा एक नहीं है। सर्वथा एक होवे तो ज्ञान, वह द्रव्य और द्रव्य, वह ज्ञान - दोनों एक होने से द्रव्य-गुण दो भिन्न नहीं रहते। आहाहा! समझ में आया? आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है। गुण-गुणी की अपेक्षा से उन्हें भिन्न कहा है। और सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। सर्वथा एक नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी, दो नाम भिन्न है। नाम भिन्न, संख्या भिन्न, प्रयोजन भिन्न। एक अपेक्षा से अभिन्न भी नहीं है। आहाहा! इसमें क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : स्वरूप भिन्न है, प्रदेश से अभिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश से अभिन्न है तथा गुण और गुणीरूप से अभेद है। कहीं गुण भिन्न और गुणी भिन्न - ऐसा नहीं है। इस अपेक्षा से अभेद है, परन्तु नाम, लक्षण और प्रयोजनभेद से भिन्न भी है। आहाहा! ऐसी कथा युवकों को तो पहली बार सुनने को मिले। सब भटकन मिलती है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रेम से सुनते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान रखते हैं। सुनने में बराबर ध्यान है। आहाहा!

क्या कहा? **आत्मा ज्ञान से (सर्वथा) भिन्न नहीं है, (सर्वथा) अभिन्न नहीं है,...** यदि सर्वथा अभिन्न होवे तो गुण और गुणी दो भिन्न नहीं हो सकते, एक ही हो जाएँ। द्रव्य है, वह तो अनन्त गुणरूप है और एक-एक गुण एक-एकरूप है। सर्वथा अभिन्न नहीं और सर्वथा भिन्न भी नहीं। कथंचित् भिन्न है। ज्ञान का जानना, दर्शन का देखना, आत्मा

का जानना-देखना एकसाथ सब। कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है। आहाहा! कहो, हरिभाई! समझ में आता है या नहीं इसमें?

ओहोहो! वीतरागी सन्त, अपने वीतरागी आनन्द का वेदन करते-करते ऐसा विकल्प आया। आहाहा! अपना वीतरागी आनन्द। स्व के ऊपर दृष्टि होने से वीतरागी आनन्द करते-करते ऐसा विकल्प आया तो यह शास्त्र रच गया। आहाहा! इस शास्त्र के परमाणु की रचना परमाणु ने की है। उनके विकल्प ने नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। करने का विकल्प आया, उससे यह शास्त्र बना नहीं और शास्त्र बनना था, इसलिए उन्हें विकल्प आया, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! कठिन पड़े। धीमे से समझे तो पकड़ में आता है। न पकड़ में आये, ऐसा कुछ नहीं है।

गुण और गुणी भिन्न है। गुण है, वह एक है। गुणी अनन्तगुण का पिण्ड है; इसलिए कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न गुण-गुणी एकरूप है। दोनों के प्रदेश एक और वस्तु एक है, इसलिए अभिन्न भी है। आहाहा! प्रत्येक गुण को (ऐसा है)। आहाहा! यह पहली दर्शन और ज्ञान की बात की। ज्ञान पर को जाने तो ज्ञान पर में चेतन हो जाए। अचेतन है, वह चेतन हो जाए। और स्व को न जाने तो अपने आधार बिना ज्ञान रहे कहाँ? आहाहा! दर्शन को देखने में अपना आधार रहा। ज्ञान को आधार रहा नहीं - ऐसा सिद्ध किया। पश्चात् यह महासेन पण्डित का आधार दिया कि ज्ञान और आत्मा, गुण और गुणी कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। क्योंकि गुणी और गुण ऐसा नाम, संज्ञा, प्रयोजन (लक्षण) भिन्न है; इस अपेक्षा से भिन्न कहा जाता है। वस्तुरूप से एक है। सभी गुण, द्रव्य के अभिन्न प्रदेश हैं, इस अपेक्षा से अभिन्न भी हैं। आहाहा! **कथंचित् भिन्नाभिन्न है;...** देखा? कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न, कथंचित् भिन्नाभिन्न हैं। आहाहा! भिन्न और अभिन्न साथ ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : दो में से एक निर्णय कर दो न, यह भिन्न और यह अभिन्न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दो होकर नक्की है। दो में से एक नक्की है - ऐसा नहीं। दो में से दोनों इस प्रमाण नक्की है।

मुमुक्षु : भिन्न और अभिन्नपना तो परस्पर विरुद्ध ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विरुद्ध अन्दर है। द्रव्य है, वह अनन्त गुणों का स्वामी है और

एक गुण है, वह एक ही गुण है। एक गुण को द्रव्य सिद्ध करोगे तो विरोध होगा। आहाहा! एक गुण को गुणी सिद्ध करोगे तो विरोध होगा और गुण उसका है, उसमें रहता है – ऐसा नहीं माने तो विरोध होगा। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! इसमें कहीं निवृतित नहीं मिलती, पत्थर और लोहे के कारण। आहाहा!

तीन बातें की। एक तो दर्शन स्व को ही देखता है, यह भी झूठ, क्योंकि दर्शन का आधार स्वयं है, ऐसे ही ज्ञान का आधार भी स्वयं है। तो उसका आधार ज्ञान, वह स्व और पर को जाने, तो दर्शन भी स्व और पर को देखता ही है। आहाहा! और उन गुण तथा गुणी को कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न, कथंचित् भिन्नाभिन्न (पना है)। आहाहा! गुण और गुणी के नामभेद से, लक्षणभेद से, प्रयोजनभेद से, कथंचित् भिन्न; स्वभाव के आश्रय से, प्रदेश के आधार से अभिन्न है। यह तो दोनों आया – कथंचित् भिन्नाभिन्न। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। वह तो दया पालो और व्रत करो। एक दिन रोटियाँ नहीं खायी तो हो गया अपवास। यहाँ तो कहते हैं कि पर के त्याग-ग्रहण रहित प्रभु विराजमान है। आहाहा!

अन्दर आत्मा अनादि काल से अनन्त काल में परवस्तु रजकण को ग्रहण नहीं किया तथा छोड़ता नहीं। आहाहा! मात्र जानने-देखने में पर को जाने, इतना व्यवहार आता है। आहाहा! पर के साथ का सम्बन्ध इतना—ज्ञायक-ज्ञेय, यह व्यवहार से इतना सम्बन्ध आता है। आहाहा! परन्तु बिलकुल ज्ञान आत्मा से भिन्न ही है और पर को ही जानता है – ऐसा नहीं है। वैसे दर्शन आत्मा में अभिन्न है, इसलिए दर्शन पर को बिल्कुल नहीं (देता) – ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! और वे इच्छामि पडिक्कमणा तत्सुतरी करणेण करेमि भंते लोगस्स उज्जोयगरेण नमोत्थुणं (करे तो) सामायिक हो गयी, उसे धर्म हो गया। धूल भी धर्म नहीं। सुन न! मिथ्यात्व का पोषण है। वीतरागभाव नहीं, उसे तू सामायिक माने, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! वह वीतरागभाव भी तुझमें है। जिसमें है, उसकी नजर किये बिना यह सामायिक हो गयी? जिसमें सामायिक-समता-वीतरागता पड़ी है, समता पड़ी है, समता। उस समतायुक्त प्रभु को न देखकर तुझे पर्याय में समता आ गयी? आहाहा! कहो, सुजानमलजी! सामायिक-बामायिक की होगी या नहीं दूसरी? लौकिक।

कहते हैं कि समतागुण तो तेरा है, तू ऐसा करे तो समतागुण आयेगा और अन्दर दृष्टि कर तो समतागुण आयेगा। क्योंकि समतागुण अन्दर है। समतागुण, तू विकल्प से

ऐसा करे कि मुझे यह करो... यह करो... वहाँ समतागुण आ जाए - ऐसा नहीं है। आहाहा! समतागुण तो अन्दर वीतरागता भरी है। समता का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! किसी के प्रति विरोध और अविश्वास है नहीं उसमें। ऐसा भगवान समता का पिण्ड है। वह समता है। उसके जाने बिना समता आयेगी कहाँ से? समता नाम का गुण वीतराग़गुण, अकषायगुण - सब एक ही है। वह गुण अन्दर है, वहाँ नजर हुई नहीं और तुझे समता आयी कहाँ से? आहाहा! वहाँ नजर गयी नहीं और प्रौषध हुए कि मैंने यह पोषा। आत्मा को पोषण दिया। जैसे चना पानी में पड़े और पोला होता है न पोला? वैसे आत्मा प्रौषध करे तो गुण में पोषण मिले। परन्तु वस्तु की ही खबर नहीं तो पोषण किसे कहाँ से मिले? आहाहा! देवीलालजी! आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण का धनी, समता का सागर जहाँ भरा है, उसकी खबर न हो और समता हो जाए, बाहर से समता आती होगी? समता बाहर रहती होगी? कि बाहर के विकल्प और उसमें सामायिक हो जाए? आहाहा! अरे! जीव ने अनादि से अपनी दया नहीं खायी। मेरा होना होगा, वह होगा, परन्तु मैं यह तो बराबर करूँ। आहाहा! चलते हुए धन्धे में या चलते हुए व्यवसाय में कमी या त्रुटि न आवे, वह करूँ। मेरा चाहे जो हो। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वयं और धन्धा भिन्न है - ऐसा मानता कब है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही दिक्कत है न! आहाहा! पूरे दिन उसमें ध्यान। परन्तु जो ध्यान करनेवाला है, वह भिन्न है, उसकी तो खबर भी नहीं होती और उसमें रहने के लिए सामायिक करना, यह कहाँ से आया? उसमें पोषण... पोषण... पोषण... जैसे चना पानी में पड़े, और पोषित हो। परन्तु वस्तु - चना तो चाहिए न? इसी तरह वस्तु चाहिए न, जिसमें पोषण करना है वह। प्रौषध तो, वस्तु देखे, उसमें एकाग्र हो तो पोषण होता है। परन्तु वस्तु (को) जाना नहीं, वहाँ पोषण आया कहाँ से? आहाहा! सामायिक और प्रौषध, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो गया। आहाहा!

जो चीज़ है, उस प्रकार से उसे न जाने और वह प्रतिक्रमण अर्थात् पर से वापिस मुड़े। कहाँ से मुड़े? जहाँ है, वहाँ रहे। आहाहा! प्रतिक्रमण (अर्थात्) वापस मुड़ना। वस्तु में आना और नहीं है, उसमें से वापस हट जाना। अप्रतिक्रमादि की क्रिया रागादि, शुभरागादि अप्रतिक्रमण है। आहाहा! उसमें से हटकर वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा में स्थिर

होने से प्रतिक्रमण होता है। यहाँ तो उसकी खबर नहीं होती कि यह आत्मा कौन है ? और उसे प्रतिक्रमण और उसे प्रत्याख्यान (कहाँ से हो) ? आहाहा! प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग। आहाहा! पर का जहाँ त्याग हो गया, वहाँ त्याग। परन्तु इसकी पर्याय में अवगुण है, अवगुण है, उसका त्याग गुण की दृष्टि बिना नहीं होता। क्या कहा यह ? पर्याय में अवगुण है, वह गुण की और द्रव्य की दृष्टि बिना अवगुण नहीं मिटते, अवगुण नहीं टलते। आहाहा! ऐसा जिसका स्वरूप है। लो! आहाहा!

पूर्वापरभूत जो ज्ञान सो यह आत्मा है... पूर्व और अपर। पहले और बाद का। अर्थात् क्या कहते हैं ? पहले जाने, वह ज्ञान और बाद में जाने वह ज्ञान है। ज्ञान कोई भिन्न-भिन्न नहीं है। पहले जानने में आवे, वह भी ज्ञान है; पर को जाने, वह भी ज्ञान है। बाद में जाने, इसलिए दूसरी चीज़ हो गयी और पहले जाने, इसलिए दूसरी चीज़ हो गयी, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! आचार्य क्या न्याय निकालते हैं! पहले जानना, इससे दूसरी घड़ी में दूसरा जाना। दूसरा जाना, इसलिए ज्ञान भिन्न पड़ गया ? इसलिए ज्ञान भिन्न है ? आहाहा! ऐसा नहीं है। एक घड़ी देखे तो अनन्त काल देखे तो ज्ञानस्वरूप तो ज्ञानस्वरूप भगवान है। केवलज्ञान जहाँ प्रगट हुआ... आहाहा!

राग के विकल्प से सूक्ष्मपने, ज्ञान और आनन्द को सूक्ष्मपने पकड़ने पर जो ज्ञान और सूक्ष्मता को विकास करने पर विकसितपना हो, वह केवलज्ञान है। इस वस्तु की तो खबर नहीं कि विकसित कौन होता है ? किसमें से विकसित होता है ? जिसमें वह शक्ति भरी है या जिस शक्ति में से वह आता है। आहाहा! यह तो बाहर के पुण्य के परिणाम में से मानो यह आता है। अब वह बाहर का परिणाम है। वह शाश्वत् टिकता तत्त्व नहीं है। आहाहा! शाश्वत् टिकते तत्त्व को जाने बिना गुण आयेगा कहाँ से ? - पर्याय आयेगी कहाँ से ? आहाहा! आचार्यों ने तो गजब काम किया है। संक्षिप्त थोड़े शब्द में... आहा! **ज्ञान सो यह आत्मा है ऐसा कहा है।** विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)